



द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से, मार्गदर्शन विषय सम्बन्धित
पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के
चयन किये गये वचनामृत

अपेक्षा-ज्ञान बराबर होना चाहिए, नहीं तो खतियाने में फेर हो जाता है। किस अपेक्षा से, किस बात को कितनी मर्यादा तक कहा है, उसका खयाल होना जरूरी है। २१०.

झटपट मुक्ति चाहिए !.... तो बस, यहाँ (त्रिकाली में) ही बिराजमान हो जाओ। २१८.

प्रश्न :- (हमको आत्मा में) स्थिरता क्यों नहीं होती ?

उत्तर :- क्षणिक (अस्थिर) परिणाम में अपनापन है, स्थिर तत्त्व को पकड़ा नहीं है, तब स्थिरता कहाँसे आए ? 'मैं अपरिणामी सदैव स्थिर ही हूँ' - ऐसे त्रिकाली - स्थिर तत्त्व में अपनापन आते ही परिणाम में स्थिरता सहज आ जाएगी, स्थिरता बढ़ेगी और पूर्णता भी हो जायेगी। पहले 'मैं त्रिकाली स्थिर तत्त्व हूँ' - ऐसी दृष्टि होनी चाहिए। २२१.

प्रश्न :- वस्तु पकड़ने में नहीं आती, तो कहाँ अटकाव हो जाता है? क्या महिमा नहीं आती है?

उत्तर :- एक समय के परिणाम में अपनापन रहता है - बस! यही भूल है। महिमा तो आती है, किन्तु ऊपर-ऊपर से। यदि वास्तविक महिमा आ जाए तब तो छोड़े ही नहीं। वस्तु का आश्रय (आधार) पकड़ना चाहिए, उसे नहीं पकड़ता है। २२७.

जैसे भूँगली को पकड़े हुए शुक को ऐसा लगता है कि 'मैं उलटा हूँ, यदि सुलटा होता तो फौरन उड़ जाता'; ऐसे अज्ञानी को ऐसा लगता है कि 'मैं विकारी हूँ, इसलिए आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकूँ?' अरे भाई ! सुलटे-उलटे की बात ही नहीं है; परिणाम से छूटा तो ध्रुवपर ही आएगा। (-पर्यायबुद्धि छुटनेपर आत्मा में ही आत्मबुद्धि होगी)। भूँगली को शुक छोड़ता...तो उड़ ही जाता, क्योंकि उड़ना उसका स्वभाव है। - ऐसे परिणाम से खिसके तो त्रिकालीदल में ही आएगा। २२९.

वस्तु साक्षात् मौजूद पड़ी है, मात्र कल्पना नहीं करना लेकिन उस रूप हो जाना - तन्मय होकर असंख्य प्रदेश में व्याप्त हो जाना। जब वस्तु साक्षात् है तो फिर मात्र कल्पना क्यों करना? - उस रूप परिणम जाना! (स्वरूप के प्रत्यक्ष अनुभव काल में 'आत्मप्रत्यक्षता' के अवलंबन से उत्पन्न पुरुषार्थ का यह प्रकट चितार है।) २३२.

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६: अंक-२७९, वर्ष-२४, मार्च-२०२१

आषाढ कृष्ण ६, शनिवार, दि. ९-७-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-८२ प्रवचन-३०

(गतांकसे आगे...)

‘विकार दूर करने के लिए पूर्णरूप से कटिबद्ध हो जाता है, उसने श्रीगुरु परम वैद्य से यह भी जाना है कि भावकर्म का रोग मिटाने के लिए सत्ता में रहे हुए कर्मों का नाश करने के लिए...’ ऐसे दोनों लिए - पुण्य-पाप का भाव और जड़कर्म। ‘नवीन रोग के कारण से बचने के लिए शुद्धात्मानुभव ही एक परम औषध है।’ ‘श्रीमद्’ ने कहा है न? ‘आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं सद्गुरु वैद्य सुजान; गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान’ - विचार और ध्यान औषध है। आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान; गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान। भगवान आत्मा पूर्णानन्द अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का रसकन्द प्रभु, उसमें रागादि विकल्प मेरे हैं - ऐसी भ्रान्ति-मिथ्याभ्रान्ति जैसा जगत में दूसरा कोई बड़ा रोग नहीं है, बड़ा रोग है। गुरु उसके वैद्य-सुजान वैद्य है। भाई! यह तेरा रोग है। कहा न? राग तेरा रोग है। तू लाभदायक मानता है, वह तेरी खोटी बुद्धि है। हमारे प्रति भी तू राग करता है, वह राग रोग है - ऐसा कहते हैं। ओहो...हो...! समझ में आया?

‘भावकर्म का रोग मिटाने के लिए और

सत्ता में रहे हुए कर्म...’ अर्थात् निमित्तरूप... ‘नवीन रोग के कारण से बचने के लिए शुद्धात्मानुभव ही एक परम औषध है।’

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।

अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्षस्वरूप।।

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय शान्तरस के चैतन्य रत्नाकर पर दृष्टि करके अन्दर आत्मा का अनुभव करना, वह ही एक रोग मिटाने का उपाय है। समझ में आया? कोई क्रियाकाण्ड करना, वह रोग (मिटाने का उपाय नहीं है)। क्रियाकाण्ड का राग है, वह स्वयं ही रोग है। आहा...हा...! समझ में आया? ‘शुद्धात्मानुभव ही एक...’ देखा? शुद्धात्मा है न? विकार तो अशुद्ध है।

‘यह सम्यग्दृष्टि समय निकाल कर स्वानुभव करता रहता है।’ देखो! धर्मी जीव चाहे जितने व्यापार धन्धे में पड़ा हो, उसमें से समय निकालकर अपनी आत्मा को स्पर्श कर लेता है। आहा...हा...! समझ में आया? समय निकालकर अपने आत्मा में अन्दर नजर करके अनुभव कर लेता है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : आज कल तो समय निकालने का समय ही नहीं मिलता।

उत्तर : सदा समय ही है। क्या समय ले? सदा

समय ही है। समय निकाले नहीं तो उसमें क्या करना? आत्मा निवृत्त ही है, राग से और पर से सदा निवृत्त ही है और निवृत्त है, उसे प्रवृत्तिवाला मानना वही दृष्टि में भ्रम है। आहा...हा...! कहो, कुछ समझ में आया?

‘कषाय के अनुभाग को सूखाते रहते हैं...’ वह तो सूख जाता है, ठीक। स्थिरता करते-करते इतना आनन्द आ जाता है कि ‘आत्मरस में मानो कि उन्मत्त हो जाए, तब बाह्य सकल त्याग करके सन्यासी अथवा निर्ग्रन्थ हो जाता है।’

लो! अन्तर आनन्द में, धर्मी जीव गृहस्थदशा में हो तो भी राग, विकल्प, बाह्य संयोग आदि का स्वामीपना नहीं है, इस अपेक्षा से उनका त्यागी ही है परन्तु अभी अस्थिरता का राग है तो उसे रोग जानता है; अतः समय निकालकर राग से रहित अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उसका अन्तर में स्पर्श करके वेदन कर देता है। आत्मा का स्पर्श करके अनुभव कर लेता है। इतनी संवर और निर्जरा, शुद्धि की वृद्धि होती है। समझ में आया? जितनी शुद्धि कायम है, उतना संवर-निर्जरा तो है ही परन्तु अन्तर का अनुभव करे तो विशेष शुद्धि होती है और विशेष आनन्द आते-आते बाह्य की आशक्ति में कुछ नहीं रुचता, धन्धे-पानी में कहीं वृत्ति को नहीं रुचता (इसलिए) अन्तर का आनन्द लेने के लिए बाहर का त्यागी हो जाता है। अन्दर का विशेष आनन्द लेने के लिए बाहर का त्यागी हो जाता है। कहीं नहीं रुचता, कहीं नहीं रुचता। रुचता नहीं अर्थात् श्रद्धा की बात नहीं, अस्थिरता में (नहीं रुचता), कहीं चैन नहीं पड़ता। व्यापार में, धन्धे में, पुत्र में, स्त्री सबके बीच बैठा हो परन्तु कहीं चैन नहीं पड़ता। तब उसे ऐसा होता है कि मैं तो आत्मा का विशेष अनुभव करने के लिए सबसे

अलग हो जाता हूँ - इसका नाम मुनिपना कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया? है न?

‘आत्मतत्त्व का स्वाद लिया करे और बाहर जाने का कोई प्रपञ्च रुचे नहीं...’ बाहर जाने का अर्थात् बाहर व्यापार-धन्धे में। ‘आत्मरस में मानो कि उन्मत्त हो जाए तब सकल बाह्य त्याग करके सन्यासी अथवा निर्ग्रन्थ...’ दिगम्बर मुनि। आहा...हा...! जहाँ बैठे वहाँ वन, जहाँ जाए वहाँ जंगल। आहा...हा...! तुम कैसे हो....



और यह सब विकल्प छूट गये। समझ में आया? अपने आत्मा का अनुभव करने में प्रयत्न उग्र हो गया, वहाँ वह बाहर का त्याग सहज हो जाता है। (अज्ञानी को) अन्तर का अनुभव और दृष्टि का भान नहीं है और बाहर का त्याग करता है, वह त्याग ही नहीं है। समझ में आया? कहीं नहीं रुचता। समझ में आया?

हड़किया (पागल) कुत्ता काटा हो न? हड़किया समझे? क्या कहते हैं? पागल कुत्ता। पागल कुत्ता काटे फिर कहीं नहीं रुचता। नहीं पानी, नहीं हवा, नहीं भोजन। हवा नहीं रुचती, हाँ! एक ब्राह्मण की लड़की थी, उसे सौंप गये थे, फिर अन्तिम बारह वर्ष तक जलांतक रोग। काका! मुझे कहीं (चैन नहीं पड़ता)। फिर अन्तिम अड़तालीस घण्टे पानी नहीं, आहार नहीं, पवन नहीं, कुछ नहीं रुचता। अन्दर में हड़क लगा, नजदीक नहीं आने दे। एक बाई को तो मैंने देखा है, वृद्ध थी, वृद्ध (वह कहे), मुझे दर्शन करना है, दूर खड़ी रही (फिर कहे) मुझे अन्दर से हड़क आवे तो ऐसा काट खाने का मन हो जाता है ‘रणपुर’। वह लड़की तो बेचारी छोटी थी, अड़तालीस घण्टे न रुचे पवन, न रुचे पानी। पानी नजर में नहीं पड़ना चाहिए, पानी पड़े तो

पीड़ा (होती है)। पानी नजर पड़े और पीड़ा हो। पागल होता है न, पागल कुत्ता, ऐसे कहीं रुचि नहीं जमती।

इसी प्रकार धर्मी को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की ऐसी लगन लगी होती है कि कहीं नहीं रुचता, कहीं मन नहीं ठहरता। समझ में आया? व्यापार, धन्धा, बोलना, चलना, प्रतिष्ठा, कीर्ति कहीं मन नहीं ठहरता। अपने आनन्द की रुचि में तल्लीन होने के कारण बाहर का त्याग करके विशेष अनुभव करता है, उसका नाम निर्ग्रन्थदशा कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया?

वह लड़की बेचारी कहती थी, काका! मुझे कहीं (चैन नहीं पड़ता)। पंखा चलाए (तो भी नहीं रुचता) अन्दर पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा...। एक गाय को हमने देखा था, यहाँ एक गाय थी। 'हीराभाई' के मकान में से (देखी थी), बड़ी गाय, हड़कने लगी। दो दिन ऐसे चक्कर लगाये, दो दिन तक पानी नहीं, आहार नहीं, रुचे नहीं; शरीर बड़ा लठ्ठ, वह अन्त में नीचे गिरी तड़फी... तड़फी... तड़फी... कौवे माँस खायें फफोले चार-छह घण्टे ऐसे रही, तड़फी... तड़फी... तड़फी...। वहाँ एक सिपाही निकला कहा देखो, कुछ है या नहीं? क्या है यह? कोई कर्म, कोई पाप, उसका फल ऐसा कुछ है या नहीं? उसमें आत्मा है, देखो न! अन्दर आत्मा है, वह अभी इस शरीर की स्थिति से तड़फता है। गाय का शरीर बड़ा लठ्ठ जैसा, उसमें पागल हो गयी। पछाड़े, पैर पछाड़े, पूंछ पछाड़े, पैर पछाड़े, अन्दर रहा न जाए। अड़तालीस घण्टे (के बाद मर गयी)।

इसी प्रकार धर्मी को बाहर कहीं चैन नहीं पड़ता। अपने आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की प्रीति और रुचि हो गयी, तब से राग का त्याग है, परन्तु राग को रोग जानकर त्याग करने का अभिलाषी है, छोड़ने का अभिलाषी। आहा...हा...! अतीन्द्रिय अमृत का स्वाद, अतीन्द्रिय अमृत का उग्र स्वाद लेने की अभिलाषा क्यों न होगी? कहते हैं कि सब छूट जाता है।

'श्रद्धा और ज्ञान की अपेक्षा से तो अवृत्त सम्यक्त्व के चौथे गुणस्थान में ही वह सन्यासी हो गया है...' लो! समझ में आया? 'अब छठवें-सातवें गुणस्थान में रहकर चारित्र की अपेक्षा से भी सन्यासी हो गया है...' लो! दो प्रकार के सन्यासी कहे। समझ में आया? आहा...हा...! मेरे आत्मा के अतिरिक्त मुझे कोई पदार्थ नहीं रुचता। समकित्ती को शुभभाव भी नहीं रुचता, आहा...हा...! शुभभाव रुचे तो मिथ्यादृष्टि मूढ है। (वह) अपने अतीन्द्रिय आनन्द का अनादर करता है। समझ में आया? धर्म ऐसी चीज है, उसका फल भी महा अमृत फल है। अमर फल! अमर फल 'पिंगला' को नहीं था? वह तो खोटा अमर फल था। आता है न! 'पिंगला' को? किसी ने राजा को दिया, राजा ने 'पिंगला' को दिया, 'पिंगला' ने अश्वपाल को दिया, अश्वपाल ने किसी बाई को (दिया), उस बाई के पास से वापस राजा के पास आया। (राजा को लगा), अरे...! यह फल कहाँ से (आया)? अरे...! यह फल (तेरे पास) कहाँ से (आया)? बाई कहने लगी, अन्नदाता! एक अश्वपाल है वह मेरे पास आता है, उसने मुझे दिया है। अश्वपाल के पास कहाँ से आया? बुलाओ अश्वपाल को! कहाँ से (आया) यह फल? (अश्वपाल कहता है) महाराज! यह 'पिंगला' रानी के पास से आया है। अरे...! पिंगला! यह क्या? 'देखा नहीं कुछ सार जगत में, देखा नहीं कुछ सार, प्यारी मेरी पिंगला नारी, देखा नहीं कुछ सार...' छोड़कर चला गया। आहा...हा...! ब्यानवे लाख मालव का अधिपति चल निकला, यह संसार! गुप्त रीति से मेरा यह फल वैश्या को किसी ने दिया होगा, तो लगा कि अन्नदाता को दो। वैश्या, अश्वपाल के साथ चलती होगी, अश्वपाल को पिंगला ने दिया, ऐसे चलते-चलते (चला)। आहा...हा...! ऐसे सम्यग्दृष्टि को अन्तर में से पूरी बात उड़ जाती है। समझ में आया?

सम्यग्दृष्टि को अन्तर में ही वैराग्य है। ज्ञान,

वैराग्य शक्ति आती है न? भाई! 'निर्जरा अधिकार' में नहीं आता? ज्ञान, वैराग्य चौथे गुणस्थान से है। अन्य लोग कहते हैं नहीं, वह तो सातवें में होता है। सुन न, भगवान! अरे...! तुझे तेरे माहात्म्य का पता नहीं है प्रभु! आहा...हा...! अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द, वह भी परिपूर्ण आनन्द, वह भी अनन्त... अनन्त... आनन्द पर्याय में प्रगट हो तो भी कम न हो, ऐसा आनन्द! ऐसा समुद्र अन्य कहाँ है? ऐसा भगवान आत्मा अतीन्द्रिय... अतीन्द्रिय आनन्द के रस का समुद्र जहाँ दृष्टि में आया, (वहाँ) राग का त्याग हो गया। राग का रोग है। अरे...! मेरा अमृत लुटता है, मेरे अमृत का स्वाद लुटता है। आहा...हा...! समझ में आया? इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि अमृत के आनन्द के स्वाद की अभिलाषा में राग की भावना छूट जाती है - इस अपेक्षा से त्यागी है। श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान की अवस्था की अपेक्षा से (त्यागी है)।

'मुनि, निर्ग्रन्थदशा में रहकर दिन-रात स्वानुभव का अभ्यास करते हैं... यह अन्तर में राग का भी अभाव हो गया। मुनि हुए...' मुनि किसे कहते हैं...! आहा...हा...! जो अन्दर में उग्र अतीन्द्रिय आनन्द लेने के लिए शीघ्रता करते हैं। आहा...हा...! छोटे बालक को तरबूज की मिठास होती है न? तरबूज... तरबूज...। क्या कहते हैं? खरबूजा। ऐसा आधे मन, आधे मन का एकदम लाल, छुरी मारकर निकलते हैं न! छोटा बालक होता है, उससे कहते हैं ले यह, दे भाई को। वह देने का नहीं समझता, वह उसे सीधा खाने लगता है। समझ में आया? हमारे आते हैं न? छोटे लड़के आहार देने में आते हैं न! उनसे कहे कि पापड़ दे, तो वह पापड़ लेकर खाने लगता है। उसकी माँ कहे कि दे, तो वह सीधा पापड़ (खाने लगता है)। ऐसे कोई कहे, यह भाई को दे, तुझे बाद में दूँगे, हाँ! दे बड़े भाई को दे। 'बड़े भाई को दे' वह नहीं सुनता, एकदम लाल देखकर सीधा चूसने लगता है। आहा...हा...!

इसी प्रकार भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का (बिम्ब है)। एकदम लाल तरबूज की मिठास हो, जड़ की मिठास है, यह तो चैतन्य की मिठास है। एकाग्रता की छुरी (चलाकर), जितनी एकाग्रता करे उतना आनन्द झरता है। समझ में आया? ऐसा परमात्मा मेरे पास है। मैं ही आत्मा हूँ, परमात्मा हूँ। आहा...हा...!

'निर्ग्रन्थदशा में रहकर दिन-रात स्वानुभव का अभ्यास करते हैं।' लो, निर्ग्रन्थ दशा में यह अभ्यास है। लेना, देना, पुस्तक बनाना, अमुक-अमुक करना, वह उनका अभ्यास नहीं है। सुन न! इतनों को समझाया और इतनों को देश में बताया और इतने राजाओं को समझाया और इतनी पुस्तकें बनार्यी... अरे...! यह तेरा कर्तव्य है? सुन तो सही! प्रभुदासभाई! यहाँ तो भगवान आत्मा, अपने निज स्वरूप की सम्पत्ति की दृष्टि का अनुभव हुआ तो राग होने पर भी उसका स्वामीपना नहीं है, इतना त्याग है और स्वरूप में स्थिरता करने को निर्ग्रन्थ पद में आ जाए तो बाह्य में दिगम्बर (दशा और) अन्दर में तीन कषाय के अभावपूर्वक का आनन्द है। स्वानुभव के आनन्द की उग्रता का वेदन करने के लिए ही मुनि होते हैं। आहा...हा...! दुनिया को समझाने के लिए, बोध देने के लिए, उपदेश देने के लिए मुनि नहीं होते। कहो, ज्ञानचन्द्रजी! क्या कहते हैं? देखो, स्वानुभव का दिन-रात अनुभव करने के लिए मुनि होते हैं। आहा...हा...!

अपना भगवान आत्मा... ऐसा अभ्यास.... प्रभु आत्मा... आत्मा... आत्मा...। अमृत का महासागर, उसमें जितनी एकाग्रता हो, उतना आनन्द का झरना (झरता है)। जैसे पर्वत में से पानी झरता है, वैसे आनन्द झरता है, वह विशेष आनन्द झरे, उसके अनुभव के लिए मुनिपना लेते हैं। ओ...हो...! कुछ बोलने या लेने के लिए या पढ़ने के लिए या सुनने के लिए (मुनिपना लेते हैं) यह कारण है ही नहीं - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

‘जो तद्भव मोक्षगामी होते हैं तो क्षायिकश्रेणी चढकर (शीघ्र ही चारघातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञानी हो जाते हैं...)’ समझ में आया? (फिर) समयसार का दृष्टान्त दिया है। सन्यस्त शब्द पड़ा है न? ‘मोक्ष की चाह रखनेवाले महात्मा को सर्व क्रियाकाण्ड और मन-वचन-काया की क्रिया का ममत्व त्याग देना योग्य है।’ ममत्व त्याग देना। मन-वचन-काया की जड़ की क्रिया का ममत्व छोड़ दे। दया-दान के विकल्प की ममता छोड़ दे, वह मेरे नहीं।

‘जहाँ आत्मा के निजस्वभाव के अतिरिक्त सर्व का त्याग होता है, वहाँ पुण्य और पाप के त्याग की क्या बात? उन दोनों का त्याग है ही...’ अहो! जहाँ अन्तर में दृष्टि में भी पुण्य-पाप का त्याग हो गया, फिर चारित्र पद में पुण्य-पाप की अस्थिरता का त्याग हो गया। अन्तर में जितनी वीतरागता प्रगट हो, उतना धर्म है। निर्ग्रन्थ पद में वीतरागता की बहुत वृद्धि होती है।

‘उन दोनों का त्याग है ही...’ देखो, धर्मात्मा

मुनि सन्त को (और) सम्यग्दृष्टि को भी सम्यग्दर्शन में पुण्य-पापभाव का दृष्टि और ज्ञान की अपेक्षा से त्याग है, मुनि को अस्थिरता की अपेक्षा से त्याग है। अस्थिरता का भी त्याग हो गया है और आत्मा में लीनता हो गयी, उसका नाम सन्यास है।

‘सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि स्वभाव में रहना वह ही मोक्ष का मार्ग है। लो, अपने शुद्धस्वभाव में रहना वह मोक्षमार्ग है। जो इस मार्ग में रहता है, उसके पास कर्मरहित भाव से प्राप्त और आत्मिकरस से पूर्ण ऐसा केवलज्ञान स्वयं दौड़ता आता है।’ लो, ‘ज्ञानं स्वयं धावति’ भगवान आत्मा अपने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेने का उग्र प्रयत्न करता है तो अल्प काल में केवलज्ञान दौड़ता आता है। केवलज्ञान को बुलाते हैं कि लाओ केवलज्ञान, लाओ! अनुभव की उग्रता केवलज्ञान को बुलाती है। केवलज्ञान अल्प काल में आ जाता है। आहा...हा...! समझ में आया? तीनों बोल आ गये - सम्यग्दर्शन, फिर मुनिपना, फिर केवलज्ञान। समझ में आया?



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके वचनामृत-२०५ पर भाववाही
प्रवचन, दि. ३१-३-१९८३, प्रवचन
क्रमांक-८३ (विषय : मार्गदर्शन)

कागज पर चित्रित दीपक तीनोंको
जलाता नहीं, उसी प्रकार केवल शास्त्रज्ञान संसार
(बन) को नहीं जला सकता। २०५.

२०५ नंबरका वचनामृत है। 'कागज पर चित्रित दीपक तीनोंको जलाता नहीं, उसी प्रकार केवल शास्त्रज्ञान संसार (बन) को नहीं जला सकता।' धारणाज्ञानका विषय लिया है। जैसे कोई बुद्धिबलसे शास्त्रके विषयको समझनेका प्रयास करे, समझमें भी आये कि शास्त्रकार ऐसा कहना चाहते हैं, परन्तु केवल शास्त्रका ज्ञान अर्थात् परलक्षी शास्त्रका ज्ञान। केवल शास्त्रज्ञान लिया है न? केवल शास्त्रका ज्ञान माने परलक्षी ज्ञान, शुष्कज्ञान, धारणा ज्ञान, उसे केवल शास्त्रज्ञान कहा है।

ऐसा नहीं है कि मात्र बाह्यक्रिया करता है वही निरर्थक है। यहाँ तो ज्ञानकी क्रिया दिखे और वह भी शास्त्र सम्बन्धित ज्ञानकी क्रिया दिखे तो भी आत्मज्ञान रहित ज्ञान है, उसे केवल शास्त्रज्ञान अथवा मात्र कोरी धारणाका ज्ञान, याददास्तका ज्ञान अथवा शुष्कज्ञान कहनेमें आता है। उसे केवल ज्ञान कहा। आत्मज्ञान रहित केवल ज्ञान है। या तो शास्त्र सम्बन्धित ज्ञान आत्मज्ञान सहित हो, तो वह भला है, हितकर है। अथवा वह शास्त्रज्ञान आत्मज्ञानकी प्राप्तिके प्रयास सहित हो, या तो आत्मज्ञान सहित हो और जिसे आत्मज्ञान सहित न हो,

उसे आत्मज्ञान हो ऐसे प्रयासयुक्त हो तो वह ज्ञान कोई भी अंशमें सार्थक है, ऐसा कहनेमें आये।

श्रीमद्जीने लिया है न? 'वैराग्य आदि...' आदिमें शास्त्रज्ञान ले लेना। 'वैराग्य आदि सफळ जो, जो सह आत्मज्ञान,' त्याग, वैराग्य और शास्त्रज्ञान, सब बाह्यक्रियामें जाता है। उसकी सफलता कब गिननेमें आती है? अथवा उसका कुछ मूल्य भी कब करनेमें आता है? कि जब आत्मज्ञान सहित हो तब। 'वैराग्य आदि सफळ जो, जो सह आत्मज्ञान, अथवा आत्मज्ञानकी प्राप्ति तणा निदान।' निदान अर्थात् यहाँ प्रयत्न। यह नियानु बाँधते हैं न? ध्येय। जिसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति ध्येयमात्र है, केवल उस ही ध्येयसे जो कुछ शास्त्रज्ञान, वैराग्य आदिमें वह जुड़ता है, तो उस शास्त्रज्ञानकी सफलता है। अन्यथा शास्त्रज्ञानकी सफलता नहीं है। और उससे संसारका नाश नहीं होगा।

कदाचित् तुझे धारणा हो जायेगी, विकास होगा तो अंग-पूर्वकी धारणा, क्षयोपशका विकास होगा तो अंग-पूर्वकी धारण होगी, लेकिन उससे तेरा संसार नहीं जलेगा, ऐसा कहना है। जन्म-मरणका नाश करना है, यह जो मुख्य कार्य है, यह कार्य नहीं हुआ तो कुछ नहीं हुआ। अब आगे वही लेंगे, तो कुछ नहीं किया। 'जिनके जन्म-मरणकी गाँठ (भेदित) नहीं हुई, उन्होंने

जीवनमें कुछ भी नहीं किया...’ चाहे जो भी किया हो, फिर भी उसने कुछ नहीं किया। यह ज्ञानीका नाप है। ज्ञानी इस फूटपट्टीसे नापते हैं। दूसरे प्रकारसे ज्ञानीका नाप नहीं है।

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि, अन्दरमें जन्म-मरण नष्ट हो ऐसी बात है, उस प्रकारमें आया है तो बराबर है, नहीं तो उसका कोई मतलब नहीं है। कोई भी बाह्य प्रकारको गिनतीमें गिनते ही नहीं, यह एक मुख्य बात है। मोक्षमार्गमें यह एक खास नींवकी बात यहाँसे शुरू की जाती है।

यह तो दृष्टांत लिया है कि कागज पर चित्रित दीपक हो, और घास कि जो आसानीसे जल सके ऐसा पदार्थ है, शीघ्र ही अग्नि लगाओ कि जलने लगता है, घास को अग्नि लगनेमें देर नहीं लगती। लकड़ीको देर लगे, अन्य वस्तुको देर लगे, लेकिन घास तो शीघ्र ही जलने लगता है। और कागज पर हजार दीपक बनाये हो, लाख दीपक बनाये हो, करोड़ दीपक बनाये हो, घासके एक तिनकेको जलाता नहीं।

उसी प्रकार यहाँ केवल शास्त्रज्ञान पर प्रहार किया है कि वास्तवमें वह संसारको जलायेगा नहीं। ऐसा नहीं है कि केवल क्रियाकांडमें जो पड़े हैं उनकी टीका-टिप्पणी है। यहाँ तो शास्त्रज्ञानकी पद्धतिमें और शास्त्रज्ञानके व्यवसायमें और दैनिक शास्त्र-स्वाध्यायकी क्रिया, वह भी क्रिया ही है न, बाह्यक्रिया है, उसमें पड़े हैं उन्हें यह चेतावनी देनेमें आती है कि वह शास्त्रज्ञान आत्मज्ञान सहित होना चाहिये अथवा आत्मज्ञान हो उस प्रकारके प्रयत्न सहित होना चाहिये। बस, इसके अतिरिक्त इसमें अन्य कोई दूसरी बातका अवकाश नहीं है, इसके अलावा दूसरी कोई बातका इसमें अवकाश नहीं है। यह प्रकार लिया है।

मुमुक्षु :— शास्त्रज्ञान करता है, लेकिन प्रयोगमें नहीं उतरता है, ऐसा हो सकता है?

पूज्य भाईश्री :— शास्त्रमें जो कहना चाहते हैं, जैसा आत्मा दर्शाना चाहते हैं वैसा, आत्माका अनुभव करनेका यथायोग्य प्रकारसे प्रयत्न होना चाहिये अर्थात् उसकी जितनी हद तक तीव्र भावना होनी चाहिये, जितनी हद तक आत्माको जाननेकी जिज्ञासा होनी चाहिये और पूर्ण निर्दोष होनेके ध्येयपूर्वक उसकी पर्याय-पर्याय पर, प्रसंग-प्रसंग पर जागृति हो और ऐसी तीव्र लगनसे पूरा पीछे पड़ जाये, एक आत्मज्ञान न हो तबतक आत्मज्ञान होने हेतु ही पूरा उद्यम हो, पूरा उसके पीछे लगा रहे, इसके अलावा उसे अन्य सबकुछ गौण हो जाये, एक आत्मज्ञान न हो, अनुभव न हो तबतक कहीं चैन पड़े नहीं। सब रस नीरस हो जाये, ऐसे प्रकार सहित वह, जिसमें आत्मा कहा है ऐसे शास्त्र, शास्त्रज्ञानमें तो क्या है कि उसमें आत्मा दर्शाया है, वास्तवमें तो सत्शास्त्रोंमें आत्मा दर्शाया गया है कि आत्मा स्वरूपसे कैसा है। अनादिसे यह जीव, जो निज स्वरूपके विषयमें अनजान रहा, वह विषय वहाँ प्रदर्शित किया है। उसको जाननेके लिये इतनी तैयारी सहित जाने तब उसे, वह शास्त्रज्ञानकी प्रवृत्ति यथास्थानमें करता है ऐसा समझना चाहिये।

और जिसे आत्मज्ञान हुआ है, वह भी अपनी स्वरूप लीनता वृद्धिगत करने हेतु, जो शास्त्र कि जिसमें शुद्धात्मस्वरूपका अत्यंत-अत्यंत महिमा की है, बारंबार उसकी महिमा करके कहा है, उस शास्त्रका वह अध्ययन करे तो उसकी भावनाका घोलन हो। बाकी यूँही शुष्क धारणासे और वह धारणा उसे अभिमानका कारण हो, उस धारणाके कारण मैं समझा हूँ, ऐसे स्वच्छंदका कारण हो, उसे वह प्रायः दुर्गुणका कारण होता है। उस शास्त्रज्ञानसे संसार तो जलता नहीं है, अपितु बढ़ता है, जलनेका तो सवाल ही नहीं है। नुकसान होता है। ऐसा है। हथियार है, साधन है, उपयोग करना आये तो काम हो, अन्यथा स्वयंको ही लगे, ऐसी बात है। यह चेतावनी दी है कि शुष्कज्ञानमें रहने जैसा नहीं है।

भले ही वर्तमानमें मुमुक्षुकी भूमिकामें आत्मज्ञान न हो, फिर भी उसका हृदय तो आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये भीगा हुआ होना चाहिये। लाखों, करोड़ों, अरबों जीव, वर्तमानमें अरबों मनुष्य हैं, कोई एक सम्यग्दृष्टि हो कि जिनके पास यह आत्मज्ञान है, यह माल है, वहाँसे उसको समझना है तो उसको उसकी दुर्लभताका ख्याल आना चाहिये कि कितनी दुर्लभता है इस विषयकी।

बाकी शास्त्र पढ़कर सीख ले, जैसे कोई स्कूलमें जाकर रटन कर लेता है, सीख लेता है, वैसे यहाँ भी पढ़कर, सुनकर, चर्चा-वार्ता आदि करके सीख ले, धारणा कर ले, इससे वह उसके कोई कामकी चीज नहीं है, उलटा नुकसानका कारण हो जाये। यह ध्यानमें रखने जैसा विषय लिया है।

दि. ११-४-१९८३, वचनामृत-२१४, प्रवचन क्रमांक-८८
(विषय : मार्गदर्शन)

‘अभिप्राय’-यह तो जीवका जीवन हो जाता है—उसका घर बन जाता है।
अभिप्राय-परिवर्तन तो उसे जीवन-परिवर्तन सा लगता है। २१४.

(४२:४० मिनटसे)

२१४. “अभिप्राय’-यह तो जीवका जीवन हो जाता है—उसका घर बन जाता है।’ घरेलु शब्द है, इडियोमेटिक है, घर बन जाता है। रोग जैसे घर बन जाता है, उसका स्थान नहीं छोड़ता, ऐसे अभिप्राय है उस अनुसार उसका परिणामन है वहाँ घर बना लेता है। कहते हैं कि स्वाध्याय आदि दैनिक प्रक्रियाका व्यवहार किसलिये है? कि अभिप्रायको बदलनेके लिये। पहले अभिप्राय बदलता है, बादमें उसकी श्रद्धा बदलती है। क्योंकि अभिप्राय समझन और ज्ञानपूर्वक बदलता है और उसका फल बादमें श्रद्धागुणमें आता है। इसलिये ऐसा कहते हैं कि “‘अभिप्राय’-यह तो जीवका जीवन हो जाता है-’ और वह अभिप्राय है वह उसका पूर्वग्रह है।

मनुष्य कहते हैं न, आप इसके लिये क्या मानते हो? कि मेरा यह अभिप्राय है, यह मेरा मत है। अभिप्राय कहो, मत कहो, पूर्वग्रह कहो। उसने, उसके लिये जो ग्रहण करके निर्णय किया कि यह ऐसा ही, यह ऐसा ही,

यह अभिप्राय हो गया न। बादमें वह उसको उस दृष्टिसे ही देखता है। महान ज्ञानी और संत हो, लेकिन अभिप्रायमें यह नक्की किया हो कि इसमें कुछ नहीं है। वह सुवर्ण जैसी बात उसके तिरनेकी करे, उसको रुचे नहीं, उसका ध्यान जाता नहीं, उसका लक्ष्य जाता नहीं, वह समझ नहीं सकता। और अज्ञानी हो, मिथ्यात्वको दृढ़ करता हो, लेकिन उसमें महानता कल्पी हो, कुलगुरुमें तो ऐसा ही होता है न कि यह मेरे गुरु है इसलिये महान है। तो उसकी कोई भी बात साधारण हो तो भी उसे ऐसा लगता है, आहा..! क्या बात करते हैं, क्या बात करते हैं, देखो तो सही!

मुमुक्षु :— ब्रह्मवाक्य माने।

पूज्य भाईश्री :— ब्रह्मवाक्य माने। ऐसे उसके अभिप्रायने घर बना लिया है। इसलिये ज्ञानी, मुमुक्षुओंको पहले यह सीख देते हैं कि समस्त प्रकारका पूर्वग्रह छोड़कर अथवा सादी भाषामें ऐसा कहते हैं कि कोरी पाटी करके, एक बार तू सुन। यद्यपि कोरी पाटी होना इतना आसान नहीं है। पूर्वग्रहीत छोड़ना इतना आसान

नहीं है, वह अत्यंत पुरुषार्थसे, बहुत प्रयत्नसे और बहुत मंथनसे छूटता है, परन्तु जीव हल्का हो सकता है। उस पूर्वग्रहमें, पूर्वग्रहकी पकड़में यदि हल्कापन आये यानि कौतूहल एवं जिज्ञासासे उसे हल्कापन आये कि देखे तो सही, क्या कहते हैं? वह कहते हैं, यह बराबर है कि नहीं? सत्य है या असत्य है, इसकी तो जाँच करे। ऐसा समझकर भी यदि उसकी योग्यताकी जाँच करने जाये, परन्तु पूर्वग्रह छोड़कर, असत्य ही कहता है ऐसे नहीं, निष्पक्षपने यदि उसकी जाँच करने जाये तो उसे सत्य-असत्यका विवेक हो, ऐसा मिथ्याज्ञानमें भी थोड़ा अवकाश, जगह रही है।

इसमें पीछे ऐसा एक वचनामृत लिया है। १००७ है, १००८ वचनामृत है उसमें आखीरसे पहलेवाला। 'जिज्ञासु जीवको सत्यका स्वीकार होनेके लिये अंतर-विचारमें...' यह कहाँ लिया? यह अभिप्रायका स्थान है, अंतर विचारका स्थान है वह अभिप्रायका स्थान है, उसके खाली कर देना ऐसा कहते हैं। यदि सत्यका अभिप्राय बाँधना हो तो जिज्ञासु जीवको, इसमें दूसरी बात नहीं ली है, जिज्ञासावाला लिया, उसका विशेषण जिज्ञासु लिया और 'सत्यका स्वीकार होनेके लिये अंतर-विचारमें सत्य-समझनेका अवकाश अवश्य रखना चाहिये।' इसके पीछे क्या बात है? गुरुदेवश्री प्रवचन करते थे तब ऐसे वचनामृत आ जाते थे। किसीने लिख लिया हो वह आ गये।

तो कहते हैं कि, तुझे सत्य प्राप्त हो गया है? एक निर्णय कर। परमसत्य तुझे उपलब्ध है, प्राप्त है, मिल गया है? नहीं, मुझे तो कोई परमसत्यकी प्राप्ति नहीं हुई है। यह बात तो स्पष्ट एकरार करने जैसी है। तो अब तू एक काम कर, भले ही प्राप्त नहीं हुआ हो, एक काम कर, तेरे अंतर-विचारके स्थानमें—अभिप्रायमें यही सत्य है यह बात छोड़ दे। जब तक तुझे सत्यकी अनुभूति न हो, अपरोक्ष साक्षात् प्रत्यक्ष अनुभूति न हो, तबतक

अंतर-विचारके स्थानमें सत्य की जगह तू निश्चितरूपसे खाली रखना, ऐसा कहना है। नहीं तो तू किसी जगह ऐसी पकड़में आ जायेगा, कि पता नहीं लगेगा। अनंत जन्म-मरणका अंत लाना हो तो परम सत्य है, उसके लिये अभिप्रायमें अर्थात् अंतर-विचारके स्थानमें उसे समझनेके लिये उसे अवकाश रखना चाहिये। है कि नहीं? कैसी बातें आयी है!

अनेक आगमोंमें से सार-सार खींचकर लिया है। इसलिये इसको 'परमागमसार' नाम देनेका कारण यह है। अनेक परमागमों पर, जंगलमें रहकर देहातीत दशामें जिन आचार्योंने एवं संतोंने, जिन्हें आहार-वस्त्र आदिकी कुछ नहीं पड़ी है, दिगंबर है, एक-एक महिनेके उपवास हो जाये तो भी मालूम पड़े नहीं, आहार लिया है या नहीं लिया है, कितने दिनोंसे आहार नहीं लिया है यह भूल जाते हैं, ऐसी तो जिनकी दशा है, ऐसे संतोंने महात्माओंने जंगलमें रहकर जिस सत्यको अक्षर-देह दिया, अक्षर-देह दिया है, यह सत्यका अक्षर-देह है, उसपर गुरुदेवश्री जैसे समर्थ महात्माने जो प्रवचन किये, उसमेंसे भी टोटल मारकर जहाँ सिद्धांत जैसी बात कही हो, उसे चयन कर लिया है। ऐसा लक्ष्य रखा है कि पूरे प्रवचनका कस कहाँ पड़ा है? एक प्रवचनमेंसे, एक गाथाके एक प्रवचनमें पूरे प्रवचनका कस कहाँ आता है? वहाँसे पकड़ना करना चाहिये। विस्तारसे बहुत बातें आयी हैं। ऐसी यह सिद्धांत जैसी बात है।

अभिप्राय-यह तो जीवका जीवन बन जाता है। देखना भाई! उस अनुसार, तेरा जीवन अभिप्राय अनुसार चलेगा। छोटी-बड़ी सब बातमें, जिस-जिस विषयमें जिस प्रकारसे अभिप्राय बाँध लेता है, बस, उसके परिणामकी चाल है वह उसके ऊपर चलती है। यहाँ भी ऐसा नहीं होता है? घर जाना है। एक नक्की कर लिया कि घर जाना है। फिर बातें करता हुआ, देखता हुआ, इधर-उधर देखता है, चाहे जैसे चले, घरपर ही पहुँचता है।

कारण क्या है? छप्पनसौ विचार करेगा रास्तेमें, हजारों लोगोंका और वाहनोंका ट्राफिक रास्तेमें आयेगा और बातोंमें लग गया हो, दो-चार जन साथमें हो तो भी वह घरकी ओर ही चलता है। उसका अभिप्राय क्या काम करता है।

एक सामान्य बातमें जिसका विकल्प किये बिना इतनी प्रवृत्ति चले, निर्णय अनुसार—अभिप्राय अनुसार, उसे परमसत्यका अभिप्राय बन जाये, परमसत्य उसके अभिप्रायमें बैठ जाये, उसकी परिणति असत्यको छोड़कर, असत्य ऐसे जन्म-मरणको भी छोड़कर सिद्धालय तक उसे पहुँचाता है। वह परमसत्यका स्थान है, लेकिन उसका मूल यहाँ है। उसके उस सत्य अभिप्रायको शास्त्र परिभाषामें सम्यग्दर्शन कहनेमें आता है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान जिसे है, उसका अभिप्राय गेरेन्टेड सत्य है। दूसरेकी भूल हो कि शास्त्र पढ़ा है वह तो ऐसा ही कहेगा न। ऐसा नहीं चलता, उसका अभिप्राय बन जाना चाहिये। अन्यथा जबतक ऐसी दशा प्रगट नहीं होती, तबतक कोई भी जीवको गड़बड़ी रहती है। वह, जीवका जीवन बन जाता है, अभिप्राय अन्दरमें घर बना लेता है और जो अभिप्राय नक्की किया हो, उसे जब बदलनेका प्रसंग आये, तब उसे पूर्व जीवन बदलना पड़े ऐसा लगता है।

मनुष्य अपना व्यापार बदल नहीं सकता। लोहेका व्यापार करता हो उसे ऐसा कहो कि, हीरेका कर। तो कहेगा कि, अपना काम नहीं है, हमें नहीं जमेगा। जिसका वह आदी बन गया है, उसे कुछ नया पूरा बदलना पड़े, नया आनेपर पूरा बदलना पड़ेगा ऐसा लगे तो उसे एक भवमें दो भव करने जैसा लगता है। हमको जमे ऐसा नहीं है। यह तो अनादिसे उसके असत्य अभिप्रायने घर बना लिया है और उसको उसे निकालना है, उसे बदलनेमें उसको जीवन बदलने जैसा है।

परन्तु जिसने ऐसा निश्चय किया है, जो कृतनिश्चयी है कि मुझे मेरा जीवन बदलना है। जो जीवन जिस तरह

चल रहा है, उस प्रकारसे जीवन नहीं जीना है, परन्तु कुछ इस प्रकार जीना है कि जिसके फलमें जन्म-मरण नष्ट हो और जिसके फलस्वरूप आत्माकी अनंत शांति सदा रहे, शाश्वत रहे, ऐसा जीवन जीना है। इसके लिये जिसने निर्णय कर लिया है, दृढ़ संकल्प कर लिया है, दृढ़ निश्चय कर लिया है, उसे वह अभिप्राय बदलना भी इतना कठिन नहीं है। सरलतासे अभिप्रायको बदल सकता है।

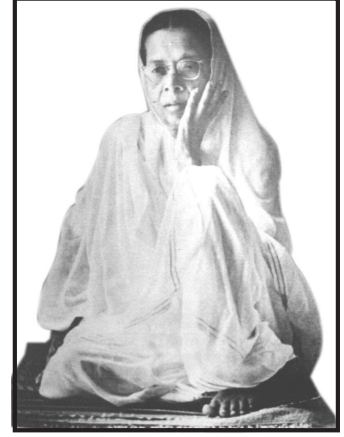
एक न्यायसे अभिप्राय बदलना कठिन है, तो भी एक न्यायसे अभिप्राय बदलना सरल भी है। ठीक! दोनों बात है। जब वह उसमेंसे खिसकना नहीं चाहता है, जो अभिप्राय उसने नक्की किया है, उस अभिप्रायको बदलनेका उसका अभिप्राय नहीं है, अभिप्रायको बदलनेका अभिप्राय नहीं है वहाँ, वह यह बहाना पकड़ेगा कि यह नहीं बदल सकूँगा, यह नहीं हो सकता, इस भवमें तो ऐसा कोई फेरफार हो सके ऐसा नहीं है। उसको स्वयंकी अशक्ति मुख्य हो जाती है। मेरी शक्तिके बाहरकी बात है।

जिसने निश्चय किया कि नहीं, इस भवमें जन्म-मरणका अभाव करनेका कारण मुझे प्राप्त हो ही जाना चाहिये, नहीं तो चार गतिमें जीवको कहीं भी जन्म-मरणका कारण नष्ट करनेका इतना अवकाश नहीं है, इतनी सुविधा नहीं है, इतनी शक्यता नहीं है, इतनी संभवितता नहीं है, जितनी यहाँ है। तो यह एक मौका मिला है। जैसे व्यापारमें प्राप्त हुए मौके को विचक्षण व्यापारी जाने नहीं देता। भूलता है? मौका मिले तो वह भूले? भूलता नहीं। मौका नहीं चूकता। वहाँ तो वह पूरा लटक जाता है। रात-दिन जागकर, खाना-पीना सब छोड़कर लग जाता है।

इसी प्रकार, यह मनुष्यपना है वह एक मौका है। जन्म-मरण नष्ट करना हो, परमसत्यको अंगीकार करना हो और अभिप्रायको पलटना हो, विचारणा करनेके

(प्रवचन का शेष अंश पृष्ठ-१७ पर...)

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्वचर्चा
मंगल वाणी-सी.डी. ८-B



मुमुक्षु :- ऐसी बातें आती थी? संप्रदाय में ये सब बातें आती थी?

समाधान :- यह बात तो आती थी, यही आती थी, दूसरी कोई नहीं आती थी। हाथ में शास्त्र दूसरे होते थे। शास्त्र दूसरे होते हैं, यह नहीं होते। बात यही सब, श्रीमद् राजचंद्रजी की बातें आती थी। कोई अपूर्व व्याख्यान थे।

मुमुक्षु :- भेदज्ञान की?

समाधान :- भेदज्ञान की बातें आती थी, सब बातें आती थी।

मुमुक्षु :- शास्त्र हाथ में आये बिना भेदज्ञान की बातें करे वह आश्चर्य की बात है।

समाधान :- गुरुदेव के हाथ में समयसार तो आया था। प्रगटरूपसे पढ़ते नहीं थे। सभा में नहीं पढ़ते थे, बाकी स्वयं तो सब पढ़ते थे। समयसार आदि सब शास्त्र पढ़ते थे। मोक्षमार्ग प्रकाशक आदि सब अन्दर में पढ़ते थे। बाहर में दूसरे शास्त्र के अर्थ करते थे। वह तो आत्मा ही कोई अलग था। आपके घरपर ठहरे तो कितने साल हो गये।

मुमुक्षु :- बहुत साल हो गये। संवत् १९८९ में राजकोट हम साथ में ही गये थे। १९८९-९० दोनों बार गुरुदेव का चातुर्मास राजकोट में था न? सदर में और गाँव में। इसलिये १९८९ में साथ में ही राजकोट गये थे।

समाधान :- कभीकबार गये होंगे, बाकी पहली बार तो हिमंतभाई को या दासभाई को लेकर गये थे। बादमें कोई बार गये होंगे। बाकी तो वहाँ वही धून चलती थी, रात और दिन वही चलता था।

मुमुक्षु :- अभी ज्ञायक का रटन करते हैं, थोड़ी देर रहता है, फिर निरंतर नहीं रहता, उसका क्या कारण?

समाधान :- खुद की इतनी लगन नहीं है। अन्दर इतनी लगी नहीं, उतना पुरुषार्थ नहीं है। अन्दर लगनी लगनी चाहिये, तो होता है। खुद को लगनी नहीं है।

मुमुक्षु :- उसकी कला बताईये।

समाधान :- कला क्या? कला बतायें तो भी करना तो उसे ही है न। कौन कर देगा? गुरुदेवने बहुत कला बताई है, बहुत कहा है, लेकिन करना तो खुद को ही है, दूसरा कौन कर देता है? गुरुदेवने कितना कहा था। सब तैयार करके दिया, लेकिन फिर गले के नीचे उतारना तो खुद को पड़ता है न। कोई थोड़े ही ना गले के नीचे उतार देता है? खुद को पुरुषार्थ करना बाकी रहता है।

मुमुक्षु :- आप थोड़ा और स्पष्ट कीजिये तो गले के नीचे उतर जाये।

समाधान :- जितना स्पष्ट हो सके उतना होता है, उसके प्रमाण में होता है न। ऐसी गंभीर बात उसके प्रमाण में जितनी स्पष्ट हो सके उतनी होती है। बाकी करना तो खुद को है। एक ही उपाय है, भेदज्ञान के सिवाय कोई उपाय नहीं है। द्रव्यदृष्टि करे, भेदविज्ञान (करे)। संक्षेप में भी लेकिन करना तो खुद को है न। उसमें-आत्मा में अन्दर अनन्त शक्ति रस से भरी है। करना तो खुद को है। भेदविज्ञान खुद को करना बाकी रहता है।

मुमुक्षु :- बात सुनते हैं, सब करते हैं तब तो ऐसा लगता है, बार-बार याद भी आता है, लेकिन फिर लक्ष्य पलट जाता है।

समाधान :- उपयोग बदलता रहता है। अन्दर उतनी लगन लगनी चाहिये।

मुमुक्षु :- वांकांनेर भूमि में आप पधारिये। कल पधारिये। बहुत साल हो गये।

समाधान :- शरीर कहाँ काम करता है? जितनी बार आ सकती थी, उतनी बार आ गये।

मुमुक्षु :- ४४वीं सम्यक्त्व जयंति पर वांकांनेर आये थे। इतने वर्ष हुए। बारह वर्ष हुए।

समाधान :- ज्ञायक की महिमा आये तो धून लगे। ज्ञायक की अन्दर लगनी लगे तो धून लगे। मुझे ज्ञायक ही चाहिये, दूसरा कुछ नहीं चाहिये। ऐसा अंतरमेंसे हो तो धून लगे। ज्ञायक को पहले तो विचार करके ग्रहण करना चाहिये। उसका निश्चय करना चाहिये कि यही ज्ञायक है, दूसरा कोई ज्ञायक नहीं है। ये विकल्प की जाल के बीच, ये विकल्प मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक ही हूँ, ऐसा निश्चय पहले हो। उसका निर्णय हो तो फिर उसके पीछे जाये। उतनी लगन लगे तो निश्चय होता है। निश्चय, स्वयं को दृढ़ निश्चय हो कि मैं ज्ञायक ही हूँ, ऐसा दृढ़ निश्चय अन्दरसे आना चाहिये तो वह ज्ञायक की ओर मुड़े। फिर मैं ज्ञायक हूँ, यह मैं नहीं, यह मैं चैतन्यद्रव्य हूँ। अन्दरसे जब निश्चय आये और ज्ञायक को ग्रहण करे तो भेदज्ञान होता है। ज्ञायक को ग्रहण करे और यह (विभाव) मैं नहीं, तो उसे (प्रगट हो)।

अन्दरसे भाव आते हैं, जो गुरुने बताया उस अनुसार अंतर में-स्वघर में कैसे जायें, अन्दर परिणति खुद पलटावे तो होता है। पूरी दिशा बदलनी है। दिशा बदले तो .. दिशा बाहर है। रुचि तो .. लेकिन अन्दर रुचि पलटनी चाहिये।

... उपादान तैयार हो तो निमित्त बनता है। लेकिन अपने उपादान की तैयारी खुद को करनी चाहिये। ज्ञायक को ग्रहण करे, उसका स्वभाव पहचाने तो होता है।

मुमुक्षु :- उसके लिये बारंबार घोलन करने जैसा है।

समाधान :- बारंबार उसका रटन, उसकी लगन, उसके विचार, उसका निर्णय बारंबार अंतर में जाने का प्रयास बारंबार करना चाहिये। जिसे बाहर की लगनी लगी हो तो वह कार्य करके ही रहता है, वैसे अन्तर में ऐसी लगन लगनी चाहिये, तो होता है। बारंबार उसका रटन करे तो होता है।

मुमुक्षु :- निरंतर नहीं चलता हो तो ?

समाधान :- धारावाही नहीं चलता हो तो उसका प्रयत्न करे। अनादि का अभ्यास है तो पलट जाता है, लेकिन बारंबार अभ्यास करना चाहिये। पलट जाये तो भी बारंबार स्वभाव की ओर लाये तो होता है।

मुमुक्षु :- जबरदस्ती भी अन्दर लाना।

समाधान :- उसकी रुचि है इसलिये लाये बिना रहता ही नहीं। जबरदस्ती हठ करके ला नहीं सकता। लेकिन रुचि हो तो आये। खुद को खटक हो तो आये। बारंबार उसका ही अभ्यास करता रहे तो होता है। अन्दरसे खटक लगनी चाहिये। आत्मा का घर है वह अनादि का घर है। देव-गुरु-शास्त्र का सान्निध्य, वह स्थान मानो मेरा घर हो, कितने ही साल पुराना है, ऐसा लगे। वैसे यह आत्मा भी कितने वर्ष पुराना है, वह भी मेरा घर है। ऐसा अन्दरसे लगना चाहिये। बाहर में लगे वह अच्छी बात है, लेकिन अन्दर भी लगना चाहिये। अनादिकाल का वह खुद का घर है। अभ्यास बाहर का हो गया है, इसलिये बाहर में रुक जाता है। अंतर का (अभ्यास) उसे कठिन लगता है। अभ्यास नहीं है इसलिये।

मुमुक्षु :- उसके लिये बारंबार सत्संग करे।

समाधान :- बारंबार सत्संग करे। अन्दर में अभ्यास करे, सत्संग तो निमित्त है, उसका बड़ा निमित्त है। लेकिन ऐसा योग जिसे नहीं हो वह अंतरसे पुरुषार्थ करता रहे। शास्त्र में बारंबार आता है, सत्संग कर, सत्संग कर। दूसरे संयोग में इतना पुरुषार्थ नहीं चलता हो खुद का तो सत्संग कर। उसमें सहज पुरुषार्थ अन्दर जाने का कारण बनता है। स्वलक्ष्य

होने का (कारण बनता है)। गुरु का निमित्त उसमें बड़ा है, सत्संग भी उसमें बलवान कारण बनता है। बाहर में वह कारण बनता है, अंतर में स्वयं का तत्त्व निर्णय कारण होता है। अपनी रुचि, तत्त्व निर्णय वह कारण बनता है।

मुमुक्षु :- बाहर की रुचि पलटनी।

समाधान :- रुचि पलटनी।

मुमुक्षु :- बाहर में रुचि है उसे अन्दर ला।

समाधान :- हाँ, अन्दर में रुचि ला। तत्त्व का निर्णय कर।

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा सी.डी.-८ C

समाधान :- उसे प्रयत्न करना चाहिये। प्रतिक्षण भेदज्ञान का अभ्यास करे। मैं भिन्न हूँ सो भिन्न ही हूँ। एकत्व हुआ ही नहीं, लेकिन जो एकत्व हो रहा है उसे भिन्न करने का प्रयत्न करना चाहिये।

मुमुक्षु :- निरंतर रहना चाहिये?

समाधान :- उसे निरंतर प्रयास करना चाहिये। निरंतर रहना चाहिये, लेकिन रहता नहीं हो तो प्रयास करना चाहिये।

मुमुक्षु :- प्रयास करे वह कृत्रिमता नहीं है?

समाधान :- कृत्रिम है, लेकिन स्वभाव सहज है, सहज धारा हो उसे सहज हो। अभी सहज उसे कुछ हुआ नहीं है। सहज नहीं है इसलिये उसे पुरुषार्थ ही करना रहता है। कृत्रिम (हो) तो (भी) वह कृत्रिम पुरुषार्थ करना रहता है। एकत्व हो रहा है, उसे प्रयत्न करके भिन्न करना पड़ता है। पुरुषार्थ कृत्रिम है, प्रयास करना पड़ता है, अभ्यास करना पड़े। पुरुषार्थ किये बिना वह होनेवाला नहीं है।

मुमुक्षु :- उस ओर का पुरुषार्थ तो यथार्थ है न?

समाधान :- यथार्थ पुरुषार्थ तो वह खुद समझ सके के किस जाति का पुरुषार्थ है। ज्ञायक स्वभाव को पहचानकर यह ज्ञायक ही मैं हूँ, वह ज्ञायक ग्रहण हुआ है या नहीं, वह स्वयं को ख्याल आता है। फिर उसे भिन्न करने का प्रयत्न करे। यह ज्ञायक सो मैं, लेकिन प्रतिक्षण जो विकल्प होते हैं, विकल्प की धारा चलती है, ऐसी धारा-स्वयं की ज्ञाता की धारा रहती नहीं है। वह ज्ञाता की धारा कैसे रहे? उसका प्रतिक्षण उसे अभ्यास होना चाहिये। अभ्यास करते-करते सहज होता है। पहलेसे तो सहज होता नहीं। अभ्यास करते-करते सहज होता है। अभ्यास करे तो सहज होता है। जिसे होता है उसे क्षण में हो जाता है, नहीं हो वह अभ्यास करे। प्रतिक्षण.. प्रतिक्षण.. प्रतिक्षण अभ्यास ही होना चाहिये। एकबार पुरुषार्थ कर लिया, विचार कर लिया, फिर छोड़ दिया। ऐसे कुछ होता नहीं। प्रतिक्षण उसकी धारा चलनी चाहिये।

मुमुक्षु :- माताजी! कल गुरुदेव की भक्ति में आया, चाबूक मारीने व्यवहारमांही वाळतो। हमने तो गुरुदेव के पास कभी चाबूक या लाठी देखी नहीं है, लकड़ी देखी नहीं है तो कैसे लकड़ी मारते हैं?

समाधान :- बाहरसे कोई चाबूक या लकड़ी होती है क्या? उनके कहने का आशय, एकदम दृढ़तासे और ज़ोरसे कहते थे, वह उनका चाबूक था। ये कहाँ चढ़ गया? ऐसा कहाँ कहा है? कोई कहे कि पर्याय यहाँ है? पर्याय अलोक में चली गयी। ऐसा किसीने कहा। गुरुदेवने एकदम ज़ोरसे कहते थे, ऐसा किसने कहा पर्याय अलोक में चली गयी? ज़ोरसे कहते थे। चौरासी में परिभ्रमण करके तू रखड़ मरेगा। कहाँ जायेगा?

मुमुक्षु :- सब जगह अक्षरशः नहीं करना, उसका भाव पकड़ना।

समाधान :- भाव पकड़ना। चाबुक यानी बाहरसे चाबुक था? क्या गुरुदेव किसीको मारते थे? उपदेश देते थे। इतना ज़ोरसे हित-उपदेश देते थे। हितसे कहते थे, अरे..! तू कहाँ चला गया? इस ओर आ। जैसे पिता बालक को कहे, हित का उपदेश दे कि यह करने जैसा नहीं है, ज़ोरसे कहे, उसे डाँटे, जैसे पिता कहे वैसे गुरुदेव कहते थे।

मुमुक्षु :- गुरुदेव का आप पूछो तो बहिनश्री रंग में आ जाये।

समाधान :- ज़ोरसे कहते थे, तू कहाँ चला गया? ऐसी शुष्कता करनेको कहाँ कहा है? शास्त्रों में भी आता है कि तीसरी भूमिका, प्रतिक्रमण की जो तीसरी अमृत भूमिका कही, प्रतिक्रमण को विषकूँभ कहा, तुझे तीसरी भूमिका कही इसलिये तुझे ऊपर जाने को कहा है, नीचे गिरने को नहीं कहा है। तु शुभभावमेंसे अशुभभाव में जा, ऐसा कहाँ कहा है? तुझे अशुभमेंसे शुभ में (लाते हैं) लेकिन शुभ भी तेरा स्वरूप नहीं है। अमृत भूमिका प्रतिक्रमण की तेरे अन्दर है। ऊपर चढ़ने को कहा है। उसे छोड़कर अशुभ में जाने को नहीं कहा है, प्रमाद करने को नहीं कहा है। इसप्रकार शास्त्रों में आता है। गुरुदेव तो बहुत ही कहते थे। गुरुदेव में जो रुके थे उन्हें कहते थे और आत्मा में कुछ नहीं है ऐसा समझकर बैठ जाये उसे भी कहते थे। दोनों को कहते थे।

मुमुक्षु :- माताजी! कल आपने दो प्रकारके व्यवहार की बात की। एक तो निश्चय के साथ अनुकूल व्यवहार कि जो आये बिना रहता नहीं और एक ऐसा व्यवहार है कि जिसे लोग गलत तरीकेसे महत्ता देकर जीव उसमें अटककर अपना परमार्थ मार्ग भूल जाते हैं। उस व्यवहार का थोड़ा विशेष स्पष्टीकरण कीजिये। जैसे कि कल हिंमतभाईने कहा था कि, दायँ पैर या बायँ पैर.. माताजी! स्पष्टीकरण इसलिये चाहता हूँ, क्योंकि बहुत लोग यह सामान्य बात है, लेकिन इस बात को शास्त्र का आधार देकर उसको महत्ता देकर उसको बड़ी कर देते हैं। जैसे कोई एक ढोंक देता हो, कोई तीन ढोंक देता हो। फोटू के दर्शन करने या फोटू के दर्शन नहीं करना, यह सब व्यवहार उसमें आता है?

समाधान :- उसका सिद्धांत स्थापित नहीं कर सकते। व्यवहार की सब बातें ऐसी है, उसे निश्चय के साथ कैसा व्यवहार होता है, अणुव्रत, महाव्रत, देव-गुरु-शास्त्र सच्चे, फिर उसकी जो अष्टप्रकार की पूजा जो शास्त्र की विधि होती है, प्रतिमाजी कैसे हो उसकी विधि, वह सब होता है। फिर उसकी वन्दन व्यवहार की कुछ मर्यादा आती है। उसकी मर्यादा में फिर किसीके भक्तिभावसे कार्य (हो तो) उसमें गृहीत मिथ्यात्व लगा देते हैं, वह सब चलता है। वह सब चलता रहता है। कोई कहे इन्हें गुरु कह सकते हैं, इनको गुरु नहीं कह सकते, निर्ग्रथ को गुरु कहते हैं। ऐसा सब चलता है। यहाँ तो उपकारी गुरु मानते हैं। मान्यता मान्यता में फ़र्क पड़ता है। ऐसा सब बहुत चलता है, उसका विस्तार करना कार्यकारी नहीं है।

मुमुक्षु :- ये तो कल सहज विषय खुला था और अभी वर्तमान में थोड़ा समझने जैसा है। लोग उसे बड़ा रूप देकर आग्रह करके..

समाधान :- गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। वे लोग कहते हैं, वहाँ सब गृहीत मिथ्यात्व है। ऐसा सब कहते हैं।

मुमुक्षु :- भक्ति नहीं हो वह क्या कहेगा?

समाधान :- ऐसा सब चलता है। शास्त्र में आता है ऐसा तो यहाँ चलता है। भगवान की अष्टप्रकारी पूजा होती है, दूसरा तो कुछ व्यवहार के तौर पर चलता नहीं है। बाहर में चलता रहेगा।

(पूज्य भाईश्री प्रवचन...)

लिये बुद्धिकी मध्यस्थता, ज्ञानकी मध्यस्थता और राग-द्वेषके प्रवाहकी न्यूनता इस गतिमें होनेके कारण, यहाँ वह अधिक सुविधायुक्त है। इसीलिये, जो यह निर्णय करता है कि मुझे यह कार्य करना ही है, तो वह अभिप्राय बदलना सरल है, अन्यथा वह अभिप्राय बदलना अत्यंत कठिन है। इसप्रकार दोनों न्याय लागू पड़ते हैं।

(पूज्य सोगानीजीके वचनामृत...)

‘मैं निरावलम्बी तत्त्व हूँ’- इसकी तो पूरी मुख्यता होनी चाहिए; और दीनताका (परावलम्बीपनेका) पूरा-पूरा दुःख मालूम होना चाहिये। २३६.

सुननेके कालमें भी ‘मैं निरावलम्बी तत्त्व हूँ’ - यहाँसे शुरू करना चाहिए, फिर सुननेका भाव आएगा किन्तु उसकी मुख्यता नहीं होगी। २४१.

सिर्फ बैठक ही बदलना है। परिणामपर बैठे हो तो वहाँसे उठकर अपरिणामीपर बैठ जाओ...बस, इतनी-सी बात है। २४८.

(मात्र) विचार करनेसे वस्तुका पता नहीं लगता (आत्माका अनुभव नहीं होता) वस्तु तो प्रत्यक्ष मौजूद है, बस! इसीमें प्रसरकर बैठ जाना, बिराजमान हो जाना। २५४.

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (मार्च-२०२१) का शुल्क श्री पियूषभाई नगीनदास भायाणी, कोलकाटा के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

व्यवहारचिंतासे व्याकुलता होनेसे सत्संगके वियोगसे किसी प्रकारसे शांति नहीं होती ऐसा आपने लिखा वह योग्य ही है। तथापि व्यवहारचिंताकी व्याकुलता तो योग्य नहीं है। सर्वत्र हरीच्छा बलवान है, यह दृढ़ करानेके लिये हरिने ऐसा किया है, ऐसा आप निःशंक समझें; इसलिये जो हो उसे देखा करे; और फिर यदि और व्याकुलता होगी, तो देख लेंगे। अब समागम होगा तब इस विषयमें बातचित करेंगे, व्याकुलता न रखें। हम तो इस मार्गसे तरे हैं।

चि. केशवलाल और लालचंद हमारे पास आते हैं। ईश्वरेच्छासे टकटकी लगाये हम देखते हैं। ईश्वर जब तक प्रेरित नहीं करता तब तक हमें कुछ नहीं करना है और वह प्रेरणा किये बिना कराना चाहता है। ऐसा होनेसे घड़ी घड़ीमें परमाश्वर्यरूप दशा हुआ करती है। केशवलाल और लालचन्द हमारी दशाके अंशकी प्राप्तिकी इच्छा करें, इस विषयमें प्रेरणा रहती हैं। तथापि ऐसा होने देनेमें ईश्वरेच्छा विलंबवाली होगी। जिससे उन्हें आजीविकाकी उपाधिमें फँसाया है। और इसलिये हमें भी मनमें यह खटका करता है; परन्तु निरुपायताका उपाय अभी तो नहीं किया जा सकता।

छोटम ज्ञानी पुरुषथे। पदकी रचना बहुत श्रेष्ठ है।

‘साकाररूपसे हरिकी प्रगट प्राप्ति’ इस शब्दको मैं प्रायः प्रत्यक्षदर्शन मानता हूँ।

आगे जाकर आपके ज्ञानमें वृद्धि होगी।

लि. आज्ञाकारी रायचंद

२५२

बंबई, जेठ, सुदी, १९४७

अभी छोटमकृत पदसंग्रह इत्यादि पुस्तकें पढ़नेका परिचय रखिये। इत्यादि शब्दसे ऐसी पुस्तकें समझें कि जिनमें सत्संग, भक्ति और वीतरागताके माहात्म्यका वर्णन किया हो।

जिनमें सत्संगके माहात्म्यका वर्णन किया हो ऐसी पुस्तकें, अथवा पद एवं काव्य हों उन्हें वारंवार मनन करने योग्य और स्मृतिमें रखने योग्य समझें।

अभी यदि जैनसूत्रोंके पढ़नेकी इच्छा हो तो उसे निवृत्त करना योग्य है, क्योंकि उन्हें (जैनसूत्रोंको) पढ़ने समझनेमें अधिक योग्यता होनी चाहिये, उसके बिना यथार्थ फलकी प्राप्ति नहीं होती। तथापि यदि दूसरी पुस्तकें न हों, तो ‘उत्तराध्ययन’ अथवा ‘सूयगडांग’ का दूसरा अध्ययन पढ़े विचारें।

२५३

बंबई, आषाढ सुदी, ९, सोम, १९४७

जब तक गुरुगमसे भक्तिका परम स्वरूप समझमें नहीं आया, और उसकी प्राप्ति नहीं हुई, तब तक भक्तिमें प्रवृत्ति करनेसे अकाल और अशुचि दोष होता है।

अकाल और अशुचिका विस्तार बड़ा है, तो भी संक्षेपमें लिखा है।

(एकांत) प्रभात, प्रथम प्रहर, यह सेव्य भक्तिके लिये योग्य काल है। स्वरूपचिंतनभक्ति सर्व कालमें सेव्य है। व्यवस्थित मन सर्व शुचिका कारण है। बाह्य मलादिरहित तन और शुद्ध एवं स्पष्ट वाणी यह शुचि है।

वि.रायचंद

२४९

बंबई, जेठ सुदी ७, शनि, १९४७

ॐ नमः

कराल काल होनेसे जीवको जहाँ वृत्तिकी स्थिति करनी चाहिये, वहाँ वह कर नहीं सकता।

सद्धर्मका प्रायः लोप ही रहता है। इसलिये इस कालको कलियुग कहा गया है।

सद्धर्मका योग सत्पुरुषके बिना नहीं होता, क्योंकि असत्में सत् नहीं होता।

प्रायः सत्पुरुषके दर्शन और योगकी इस कालमें अप्राप्ति दिखायी देती है। जब ऐसा है, तब सद्धर्मरूप समाधि मुमुक्षु पुरुषको कहाँसे प्राप्त हो? और अमुक काल व्यतीत होनेपर भी जब ऐसी समाधि प्राप्त नहीं होती तब मुमुक्षुता भी कैसे रहे?

प्रायः जीव जिस परिचयमें रहता है, उस परिचयरूप अपनेको मानता है। जिसका प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है कि अनार्यकुलमें परिचय रखनेवाला जीव अपनेको अनार्यरूपमें दृढ़ मानता है और आर्यत्वमें मति नहीं करता।

इसलिये महा पुरुषोंने और उनके आधारपर हमने ऐसा दृढ़ निश्चय किया है कि जीवके लिये सत्संग, यही मोक्षका परम साधन है।

सन्मार्गके विषयमें अपनी जैसी योग्यता है, वैसी योग्यता रखनेवाले पुरुषोंके संगको सत्संग कहा है। महान पुरुषके संगमें जो निवास है, उसे हम परम सत्संग कहते हैं; क्योंकि इसके समान कोई हितकारी साधन इस जगतमें हमने न देखा है और न सुना है।

पूर्वकालमें हुए महा पुरुषोंका चिन्तन कल्याणकारक है; तथापि वह स्वरूपस्थितिका कारण नहीं हो सकता; क्योंकि जीवको क्या करना चाहिये यह बात उनके स्मरणसे समझमें नहीं आती। प्रत्यक्ष योग होनेपर बिना समझाये भी स्वरूपस्थितिका होना हम संभवित मानते हैं, और इससे यह निश्चय होता है कि उस योगका और उस प्रत्यक्ष चिन्तनका फल मोक्ष होता है, क्योंकि सत्पुरुष ही 'मूर्तिमान मोक्ष' है।

मोक्षमें गये हैं ऐसे (अर्हत आदि) पुरुषोंका चिन्तन बहुत समयमें भावानुसार मोक्षादि फलका दाता होता है। सम्यक्त्वप्राप्त पुरुषका निश्चय होनेपर और योग्यताके कारण जीव सम्यक्त्व पाता है।

२५०

बंबई, जेठ सुदी १५, रवि, १९४७

भक्ति पूर्णता पानेके योग्य तब होती है कि

एक तृणमात्र भी हरिसे न माँगना, सर्वदशामें भक्तिमय ही रहना।

कल एक पत्र और आज एक पत्र चि. केशवलालकी ओर से मिला। पढ़कर कुछ तृषातुरता मिटी। और फिर वैसे पत्रकी आतुरता वर्धमान हुई।

